International Journal of Sanskrit Research 2021; 7(1): 536-539

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2021; 7(1): 536-539
© 2021 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 12-01-2021
Accepted: 16-02-2021

डॉ० राज कुमार राय
पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ० राज कुमार राय
पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

संस्कृत में धर्म स्वरूप तथा लोकहित

डॉ० राज कुमार राय

प्रस्तावना

मिथिला के लोक-जीवन में याज्ञवल्क्यस्मृति की भूमिका तो अहम है ही, मैंने उपर्युक्त अंशों में जितने भी ऋषियों, धर्मशास्त्रविदों के कृत्यों की चर्चा की है, वे सारे के सारे अप्रासांगिक इसलिए नहीं हैं कि उनका मौलिक आधार याज्ञवल्क्यस्मृति ही है। जो बातें ऋषि याज्ञवल्क्य के द्वारा अनुशंसित हैं उन्हीं के अंश किसी न किसी रूप में ऊपर चर्चित धर्मशास्त्रियों के ग्रन्थों में वर्णित तथ्य देखने को मिलते हैं। जो मिथिला के धार्मिक लोक-जीवन में अवधारित एवं क्रियान्वित है। चुँकि याज्ञवल्क्यस्मृति मिथिला के अन्य धर्मशास्त्रियों के पूर्व की है और सुविधा की दृष्टि से बाद में धर्मविदों ने अन्य धर्मग्रन्थों के रूप में अपनी-अपनी रचनाएँ की हैं, फलतः वे सारे के सारे लोक-जीवन के कृत्यों के मध्य एक आबलम्ब के रूप में प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार मौलिकता की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति में जितने भी अध्यायों की चर्चा की गई है उनमें आचाराध्याय उसका सूत्रपात माना गया है। इस अध्याय के अन्नतर लोक-जीवन में आने वाले आचरण सम्बन्धित धर्मों की चर्चा पर्याप्त रूप से वर्णित है फिर भी पूर्वाअंशों में धर्म की प्रधानता की चर्चा करते हुए धर्म-प्रकरणों का उद्धरण आवश्यक प्रतीत होता है, जिसके धारण करने की शक्ति हो। अर्थात् जो विश्व-ब्राह्माण्ड को धारण करता है, वही धर्म है, सारा विश्व-ब्रह्माण्ड धर्म में प्रतिष्ठित है। जिस समय धर्म अपना कार्य छोड़ देता है, उसी समय सर्वनाश या महाप्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये ऋषियों ने कहा है कि ''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा''। जो धारण करने के योग्य हो वही धर्म कहलाता है। लौकिक संस्कृत में धर्म शब्द का पुलिंग में प्रायः प्रयोग देखा जाता है, परन्तु 'तानि धर्मानि प्रथमान्यासन' इत्यादि वैदिक-प्रयोगों से धर्म शब्द की नपुंसकलिंगता भी मानी जाती है। किन्तु लौकिक- संस्कृत में ऐसा प्रयोग प्रायः नहीं है, तो भी विरल प्रयोग माना जाता है। नपुंसकलिंगता में छान्दस प्रयोग भी कहा जा सकता है। धर्मशब्द का प्रयोग शास्त्रों में अनेक अर्थों में किया जाता है। सभी प्रयोगों का प्रसंग के अनुसार अपना-अपना महत्त्व है। कोई भी प्रयोग न व्यर्थ है, न भ्रामक है। केवल उनकी संगति का ज्ञान होना आवश्यक है। ऋषि-मुनियों के जिन वचनों के आधार पर धर्म की स्थापना की जाती है, आज उन्हीं वचनों को आधार बनाकर अन्य में विरूपता के प्रयत्न करके धर्म का भी प्रचार देखा जाता है। परन्तु यह प्रशस्त मार्ग नहीं है। शास्त्र का ज्ञान शास्त्रीय-पद्धति से किसी आचार्य के द्वारा प्राप्त करना आवश्यक है, तभी शास्त्र की वास्तविक संगति का ज्ञान सम्भव है।अतएव भगवती श्रुति कहती है- ''आचार्यवान पुरुषो वेद'' आज एक नई परम्परा देखी जाती है कि जिस व्यक्ति ने वेदों का, किसी गुरु से अध्ययन नहीं किया है, वह भी उन विषयों में अनुसंधान करने को तत्पर है और कर भी रहा है। विचार करने की बात है, अनुसंधान शब्द संस्कृत भाषा का है।

इसमें अनु उपसर्ग और सन्धान शब्द है। जिससे प्रतीत होता है कि पहले संधान कर चुका है, उसके पश्चात अब अनुसंधान करेगा, किन्तु यहाँ तो विपरीत स्थिति देखी जाती है वेदों में तथा अनेक धर्मशास्त्रियों के मतानुसार धर्म को अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है, परस्पर न भेद है और न ही विरोध। सभी वचनों का एक ही अर्थ में समन्वित करने की प्रक्रिया का ज्ञान होना आवश्यक है और वह गुरु से ज्ञान प्राप्त करने से ही सम्भव है। स्वयं विद्वान् बनने से शास्त्रों की संगति में असावधानी की सम्भावना बनी रहती है, जिससे अर्थ का अनर्थ भी होने लगता है, हारीत ने कहा है, अर्थातो धर्म व्याख्यास्यामः श्रुतिप्रमाणको धर्मः अर्थात श्रुति जिसमें प्रमाण हो, वही धर्म है। श्रुति कहीं विधिरूप से उपस्थित होती है, कहीं निषेधरुप में। विधि प्रवृति का कारण है और निषेध निवृत्ति का कारण है। दोनों मानव के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन है, उसको भी धर्म-स्वरूप माना गया है। महर्षि कणाद ने कहा 'अथातो धर्म व्याख्यास्थामः यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः' अर्थात जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं।

ऐहलौकिक उन्नति तथा सुख-प्राप्ति को अभ्युदय शब्द से परिभाषित किया गया है और पारलौकिक स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति को निःश्रेयस शब्द से कहा गया है। वह भी विधि-निषेध रूप ही होगा। महर्षि गौतम ने भी प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य से निःश्रेयस की प्राप्ति माना है। जिन आचार्यों ने अथातोधर्मम् कहा है, उनके मत में 'अधर्म' ऐसा पदच्छेद करने पर अधर्म के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा भी मान ली जाती है, क्योंकि धर्म और अधर्म दोनों सापेक्ष है। धर्म के स्वरूप बताने के बाद अधर्म तथा अधर्म के स्वरूप बताने पर धर्म की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। धर्म और अधर्म का ज्ञान होना भी आवश्यक माना गया है। एक के लिए प्रवृत्ति और दूसरे के लिए निवृत्ति भी आवश्यक है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है कि उभयमिह चोदनया लक्ष्यतेर्थोनर्थश्च। अर्थः श्रेयः साधनं ज्योतिष्टोमादिः। अनर्थ प्रत्यवायसाधनम् श्येनादिः। अर्थात श्रेयः साधन रूप अर्थ और प्रत्यवाय-साधन रूप अनर्थ दोनों विधिवाक्य से ही प्रतीत होते हैं। इस श्लोक को भविष्यत पुराण के वचन को भी उद्धृत किया गया हैं। यथा-

धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रंयोऽभ्युदयलक्षणम्।
स तु पञ्चविधः प्रोक्तफो वेदमूलः सनातनः।।
अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते।
इह लोके सुखैश्वर्यमतुश्च खगाधिप।।[1]

इस प्रकार देखने को मिलता है कि धर्म एहलौकिक और पारलौकिक सुख के जितने भी साधन हैं, वे सभी लोगों के द्वारा स्वीकार किये गये हैं। भले ही शब्दों में परिवर्त्तन क्यों न हुआ हो। मनु ने भी धर्म के लक्षण को उद्धृत किया है-

विद्धद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमदवेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।[2]

जितने भी लक्षण हैं ये पहले लक्षणों के सामान ही हैं। वेदों के ज्ञाता एवं धर्मानुष्ठान में निरत राग तथा दोष से रहित हृदय के द्वारा स्वीकृति प्रदान किये गये जो भी कर्म है, वही धर्म है। जैसा कि पूर्व-विशेषज्ञों से श्रेयः साधनता की प्रतीति होती है तथा वेदों के ज्ञाता होने से वेदों का प्रमाण्य ज्ञात होता है। अतः वेदप्रमाणक श्रेयः साधन को धर्म कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है-

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्राद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम्।।[3]

कृष्णमृगस×चरणयुक्त देश, संक्रान्ति, ग्रहण आदि काल शास्त्र- प्रतिपादित विधि से प्रतिग्रह आदि से प्राप्त गौ आदि पदार्थ तथा आस्तिक्य बुद्धि से युक्त होकर शास्त्रविहित पात्र को उद्देश्य करके, जो कुछ भी दिया जाता है, उसे धर्म कहते हैं। किसी गौ आदि पदार्थ सम्बन्धी अपने अधिकार का परित्याग करते हुए दूसरे के अधिकार को सम्पन्न कर देना ही दान कहलाता है, जिसका पुनः प्रर्त्यावर्तन नहीं किया जा सकता है। पुनः जब प्रत्यावर्तनीय-स्थल में दान शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसको गौण प्रयोग मानना चाहिए। ये सभी धर्म के जनक होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया तथा श्रद्धा ये सभी धर्म के कारण हैं। यथासम्भव ये सभी न हो अथवा इसमें से एक भी उपस्थित हो, वे धर्म के प्रति कारण ही होते हैं। श्रद्धा तो सबों के साथ अन्वित है। श्रद्धा के बिना धर्म का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। यदि कोई करता भी है तो वह तामस कार्य होगा और शुभपफल नहीं दे पायेगा। अतः श्रद्धा का होना अतिआवश्यक है।

लोक-जीवन में कथित धर्मों का प्रमाण भी सिद्ध करना परम आवश्यक प्रतीत होता है। धर्म प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही एक-दूसरे के वैसे तो पूरक प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रामाणिकता साध्य तथा अप्रमाणिकता का साध्य मानी गयी है। मानवीय लोक-जीवन दोनों आधारों को लेकर पफलीभूत होता रहा है मीमासां क्रम में यह उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रमाण और अप्रमाण वस्तुतः है क्या किसी भी वस्तु की प्रमाणिकता और अप्रमाणिकता जाने बिना मुख्य स्थल तक पहुँच पाना बिल्कुल कठिन होता है। यही कारण है कि लोक-जीवन की प्रमाणिकता अप्रमाणिकता के सन्दर्भ में विभिन्न स्मृतिकारों ने अपनी-अपनी मीमांसाओं से जनजीवन को आलोकित किया है पफलतः धर्म प्रमाण ही धर्मशास्त्रों की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है।

धर्म के सन्दर्भ में कुछ कारणों को उद्धृत किया गया है। इससे सन्दर्भित विषय-वस्तु को ध्यान में रखना आवश्यक प्रतीत होता है कारण दो प्रकार के होते हैं- कारण और ज्ञापक।

कहीं-कहीं इसी कारण को हेतु शब्द भी कहा गया है। प्रायः दोनों शब्द प्रर्याय रूप में भी व्यवहार विषयता को प्राप्त है, जिससे धर्म साक्षात् उत्पन्न होता है अथवा जिसके द्वारा धर्म उत्पन्न किया जाता है, वही कारण कहलाता हैं। जैसे- यज्ञ या होम करने से धर्म उत्पन्न होता है, अतः इसे ही धर्म कहते हैं। यद्यपि मीमांसक के मतानुसार यज्ञादि क्रिया को ही धर्म माना जाता है। उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ को अपूर्व शब्द से कहा जाता है, तथापि कार्य कारण में तादात्म्य रूप से व्यवहार मान कर ऐसा कहना अनुचित न होगा। नैयायिक के मतानुसार तो कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि वेद-विहित कर्म से उत्पन्न पदार्थ को ही धर्म मानते हैं।

जैसा कि प्रमाणित वस्तु को बोध कराता है, वह ज्ञापांक हेतु कारणबद्ध कहलाता है। जैसा श्रुति, स्मृति आदि पूर्व प्रमाणित वस्तु का बोध कराते हैं। अतः उनको ज्ञापांक माना जाता है, दूसरे अर्थों में यदि घट के प्रति दण्ड कारण हेतु है और घट के प्रति प्रकाश ज्ञापांक हेतु माना जाता है। पहले घट नहीं था दण्ड के द्वारा उसका निर्माण किया गया है। अन्धकार में घट विद्यमान था पर अन्धकार रूप प्रतिबन्धक होने के कारण ज्ञान का विषय नहीं बन रहा था, परन्तु प्रकाश के आते ही घट का ज्ञान हो जाता है। अतः उसको ही कारण मानते हैं, इन्हीं कारण को प्रमाण भी कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने देश, काल, उपाय आदि को कारण हेतु रूप से प्रतिपादित किया है। उसके अपवाद रूप से भी बताया है कि यज्ञ आचार, दम, अहिंसा, दान तथा स्वाध्याय भी धर्म है। इनमें जो भी चित्त-वृत्तियों के विरूद्ध जो आत्मदर्शन अनुभूति कराती है, वही परम धर्म है आत्मदर्शन ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है, इसी आत्मदर्शन के लिए देश आदि का नियम नहीं मानते, क्योंकि व्यास ने कहा है कि जिस देश, दिशा अथवा काल में कार्य के साथ मन की एकाग्रता होती है और उसी की उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

जहाँ श्रुति, स्मृति, सदाचार, स्वयं अपने आत्मा को प्रिय तथा शास्त्र से अविरूद्ध संकल्प से उत्पन्न इच्छा भी धर्म के प्रति प्रमाण माना गया है। श्रुति को ही वेद कहते हैं। कुछ लोगों के द्वारा संहिता के भाग को श्रुति और ब्राह्मण भाग को वेद कहते हैं। परन्तु शास्त्र-मर्यादा के अनुसार यह उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि 'मन्त्रबाह्मणयोर्वेदनाधेयम् कात्यययानापस्तम्ब' आदि वचनों के आधार पर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानना उचित है। मनु ने कहा है कि श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। अर्थात् श्रुति को ही वेद मानना चाहिए। मनु के द्वारा कठिन धर्मग्रन्थ को ही स्मृति कहा गया है। मनु आदि महर्षियों ने वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् उसके अर्थों को स्मरण करके शिष्यों को उपदेश दिया करते थे, वही स्मृति है। स्मृति को ही धर्मशास्त्र कहते हैं, क्योंकि मनु ने कहा है कि धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः। अर्थात स्मृति ही धर्मशास्त्र है। सदाचार को ही शिष्टाचार कहा गया है एवं सदाचार को ही धर्म का प्रमाण माना गया है। शिष्टों के द्वारा जितने भी अनुशंसित कर्म है, वही धर्म है। शिष्टाचार के प्रमाण में ऐसा देखने को मिलता है कि शास्त्र के विरूद्ध आचार न हो कहीं -कहीं कुछ शिष्टों का शास्त्रविरूद्ध भी आचार देखा जाता है। जन-समुदाय के लिए उस परिस्थिति में आचरण योग्य नहीं माना जाता है। 'तेजीयसां न दोषाय' के आधार पर वह केवल उनके लिए माना जाता है तथा अवरदौर्वल्यम्, के आधार पर सामाान्य जन को उससे बचना ही चाहिए। यह भी सर्वविदित है कि शिष्टाचार से स्मृति की कल्पना होती है तथा स्मृति से श्रुति की कल्पना होती है। इस प्रकार वेद साक्षात् धर्म के प्रति प्रमाण है और स्मृतिमूलकत्वेन तथा शिष्टाचार स्मृतिमूलकत्वेन धर्म के प्रति प्रमाण है। जो आत्मा को प्रिय लगे, वह भी प्रमाण है, परन्तु यह प्रमाण तभी होता है, जब शास्त्रीय व्यवस्था का वैकल्पिक हो, वहाँ दो पक्षों में से किसी एक पक्ष को स्वीकार किया जा सकता है। उसमें भी कुलाचार का ध्यान रखना आवश्यक होता है। उदाहरण के तौर पर उचित होम और अनुदित होम दोनों सर्वविदित है। इन दोनों पक्षों में जो पक्ष आत्मा को प्रिय लगे उसको सम्यक् रूप से ग्रहण करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि जो अपने प्रिय लगे उसी को करना चाहिए, उस स्थिति में अनर्थ होने लगेगा। सम्यक् संकल्प से उत्पन्न इच्छा अर्थात् शास्त्र के अविरूद्ध संकल्प से उत्पन्न होने वाली इच्छा को भी प्रमाण माना है।

इसी प्रकार श्रुति आदि प्रमाणों की भाँति श्रुति सबसे प्रबल प्रमाण है। इसको मीमांसकों ने स्वतः प्रमाण माना है। इसके सापेक्ष तर्क से श्रुति वाक्यों पर विचार करना उचित नहीं है । यद्यपि कहा गया है कि यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः, तथापि यहाँ तर्क का अर्थ न्याय विद्या नहीं है, ऐसा मीमांसा के न्याय को ही तर्क शब्द से ग्रहण किया गया है। धर्म के प्रति वेद कारण है और मीमांसा इतिकत्र्तव्यता बोधिका है। इसी प्रसंग को भट्टपाद कुमारिल ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है-

> धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदने कारणात्मना।
> इतिकत्र्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति।।

स्मृति को वेदमूलक प्रमाण स्वीकार किया गया है, स्मृतिवाक्यों का वेदवाक्यों के साथ परस्पर विरोध होता है तो स्मृति वाक्य को अप्रमाण और वेद-वाक्य को प्रमाण माना जायेगा। उदाहरण ज्योतिष्टोम भाग में सद् नाम का मण्डप होता है। उसमें एक गुलर की शाखा गाड़ दी जाती है। यहाँ स्मृति-वाक्य का कहना है कि उस शाखा को कपड़े से ढ़क देना चाहिए अर्थात उसमें पूर्ण रूपेण कपड़ा लपेट देना चाहिए। वेद-वाक्य का कहना है कि शाखा का स्पर्श करके ही मन्त्रों का जप करना चाहिए। यदि उस शाखा पर पूर्णरूप से कपड़ा लपेट देते हैं तो शाखा का स्पर्श नहीं हो पाता है, अगर स्पर्श करेंगे तो वेस्टन नहीं हो पाएगा। वैसी स्थिति में क्या करना चाहिए, यहाँ स्मृति-वाक्य और वेद वाक्य में

परस्पर विरोध उत्पन्न होता है। उस परिस्थिति में स्मृति-वाक्य को प्रमाण मान लिया गया और वेद-वाक्य को प्रमाण मानकर स्पर्श पूर्वक मन्त्र का जप करना ही उचित होता है। ऐसी बात विरोधाधिकरण में स्पष्ट रूप से प्रलक्षित होता है। जाबाल ने कहा है- श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।

अगर शिष्टाचार के साथ स्मृति-वाक्य का विरोध हो, तो स्मृति-वाक्य प्रमाण होता है और शिष्टाचार अप्रमाण श्रुति अथवा स्मृति-वाक्यों में परस्पर विरोध होने पर वैकल्पिक व्यवस्था के तहद किसी एक पक्ष को प्रमाण मानना उचित प्रतीत होता है। गौतम ने कहा है- 'तुल्यबलविरोधे विकल्पः' और मनु ने कहा है- श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उपर्युक्त प्रसंग के माध्यम से वैकल्पिक व्यवस्था ही निर्णायक सिद्ध हो सकती है। अन्यथा इसमें परस्पर विरोध होना स्वाभाविक ही है।

ऐसा पहले भी कहा जा चुका है कि मुख्य रूप से स्मृति-ग्रन्थ को ही धर्मशास्त्र कहा जाता है। अथवा मानव-समाज में कर्त्तव्यों का निर्धारण करने वाले शास्त्र को ही धर्मशास्त्र कहा गया है। उसके अन्तर्गत वर्ण, आश्रम और उनके कर्त्तव्य, दायित्व तथा विशेष अधिकार, संस्कार, क्षत्रिय और राजाओं के धर्म, व्यवहार, कानून-व्यवस्था, आपदधर्म, पायश्चित, शान्ति और कर्मविपाक आदि अनेक विषयों का समावेश किया गया है। धर्मसूत्र और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं।

धर्म किसी व्यक्ति विशेष एवं वर्ग की चीज नहीं है। सम्पूर्ण संसार के मानवों के कर्मों एवं कृत्यों को सुव्यवस्थित करना ही उसका मुख्य आधार है। व्यक्ति और समाज उन्नति की ओर ले जाना ही उसका उद्देश्य है।

सामान्यः धर्म को दो भागों में विभक्त किया गया है-श्रौत और स्मार्त। श्रौत-धर्म में उन मंडन कृत्यों और संस्कारों का वर्णन किया गया है, जिनका सम्बन्ध वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों से है। तत्पश्चात् स्मार्त्त-धर्म मंडन विषयों का वर्णन किया गया है, जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों से है।

संसार के साधारण नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना संस्कार परिष्कार किये बिना दूसरे की हित नहीं कर सकता है। इसलिए धर्मशास्त्र में सर्वप्रथम व्यक्ति को आत्मोन्नति का मार्ग दिखाया गया है। आत्मोन्नति के मार्ग की पहली सीढ़ी है- सत्य का अनुष्ठान। मनुष्य को सदा सत्य बोलने के लिए प्रेरित किया गया है।[4] सत्य वचन के द्वारा ही मानव-जीवन में आत्मगुणों का विकास होता है। वे आत्म गुण आठ है- दया, शान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, आकर्षण और अस्पृहा। ये आत्मगुण मनुष्य में नैतिकता सदाचार का मार्ग प्रेरित करती है। इसी नैतिकता के निर्देशानुसार यदि कोई व्यक्ति आत्मसुख चाहता है तो अपने ही समान दूसरे व्यक्ति को देखना चाहिए, तभी आत्मसुख की प्राप्ति हो सकती है।[5]

यथैवात्मा परस्तदवत द्रव्य।

इस प्रकार जिस सामाजिक के अपने सुख-दुःख दूसरे के सुख-दुःख पर अबलम्वित है, उससे जो आशा की जा सकती है वह सर्वविदित है। भारतीय संस्कृति ही नहीं विश्व के किसी जातीय संस्कारों में देखने को मिलती हो यह कहा नहीं जा सकता है। जो अपने लिए प्रतिकूल है वह दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत ।

इससे बढ़कर आदर्श नैतिकता का प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है? जीवन में नैतिकता का निर्माण और व्यवहारिक क्षेत्र में चरितार्थ करने के लिए जिन ग्रन्थों में उपादेयता को दर्शाया गया है, उसे ही धर्मशास्त्र या स्मृति के नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के उन्नयन में स्मृतियों का योगदान महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

स्मृतियों पर आधारित ये कल्पसूत्र, गृहसूत्र और धर्मसूत्र विद्यमान है इनमें स्मृतियों के निकट धर्मसूत्र ही उपस्थाप्य है। इन्हीं को आधार मानकर स्मृतियों की रचना की गई है। विष्णुस्मृति एक मात्र ऐसी स्मृति है जिसकी रचना श्लोकों में वर्णित नहीं है यह सूत्र शैली में है। इसके अलावे सभी स्मृतियों की रचना श्लोंकों में वर्णित देखी जाती है। पुराणों की भाँति स्मृतियाँ भी अठारह हैं। याज्ञवल्क्य कुछ धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया है, जो निम्न है- मनु, अत्रि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, हरीत, उगना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, काल्यायन, वृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वशिष्ट, नारद, भृगु और शतातप। इन सभी स्मृतियों में चार ऐसी स्मृतियाँ है जो अधिक विक्षुत और लोकप्रिय माने गये हैं। उनके नाम है- मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति।

संदर्भः

1. भविष्यत पुराण, वेद व्यास
2. मनुस्मृति-2/1
3. याज्ञवल्क्यस्मृति- 1/6
4. स वै सत्यमेव वेदत-शतपथ ब्राह्मण, 1/1/1/5
5. यथैवात्मा परस्तदवद द्रष्टव्यः सुखमिच्छता। सुखदःखानि सुल्यानि यथात्मनि तथापरे दक्ष स्मृति– 3/22